

बर्मा में बौद्ध धर्म

भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बर्मा और भारत के सम्बन्ध बहुत प्राचीन हैं। बर्मा भारत की पूर्वी सीमाओं से लगा है। और दूसरी ओर बर्मा के पूर्व में कम्बुज, थाई, लाओस् और चम्पा के भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित राज्य हैं। बर्मा और भारत के बीच लम्बे दुर्गम लंगलों से आवृत मणिपुर की पहाड़ियाँ और आरकान् योमा इतिहास में कभी भी दोनों के बीच जलन्ध्र बाधा नहीं बने। भारत का बर्मा के साथ सम्बन्ध जल और थल दोनों ही मार्गों से था। धर्म की दृष्टि से बर्मा में शैव, वैष्णव और बौद्ध तीनों धर्मों का प्रचार हुआ। परन्तु निःसन्देह प्रधानता बौद्ध धर्म की रही।

बर्मा परम्पराओं के अनुसार यहाँ के सुवंशी राजाओं ने अपने को शास्य-वंशसे सम्बद्ध मानकर दोनों देशों के परस्पर सम्बन्धों में दृढ़ता लाने का यत्न किया। इन परम्पराओं में गौतम बुद्ध ने स्वयं अपरान्त को अपने दर्शनों से प्रविष्ट किया। यद्यपि इन परम्पराओं का ऐतिहासिक मूल्य नहीं परन्तु इतना अवश्य है कि ये सम्बन्धों की प्राचीनता पर ही आवृत हैं। १७वीं से लेकर १८वीं शती के इतिहासलेखकों ने बर्मा की संस्कृति, साहित्य और धर्म का उद्गमस्थल भारत को माना है। ११वीं, १२वीं शती तक बर्मा का भारत से सम्पर्क था। उसके पश्चात् फेरवाह के सुहृद् केन्द्र लंका से इसके घनिष्ठ धार्मिक सम्बन्ध रहे। ८५ लोगों में सर्वास्तिवाद और महायान उत्तरपूर्व भारत से गया था। तथा फेरवाह का सीधा सम्पर्क दक्षिण भारत के प्रथित हीनयान केन्द्रों यथा अमरावती, नागार्जुनकोण्डा, उरगपुर, कांचीपुर, आदि से था। वह तथ्य अभिलेखों, मूर्तियों और मिट्टी की टिकियों पर लिखी लिपि से प्रमाणित हो चुका है।

सम्प्रति बर्मा हीनयान बौद्ध है। इसकी धर्मभाषा पालि है। तीसरी शताब्दी से ही दक्षिणी बर्मा के प्रथित ८५ राज्य श्रीक्षेत्र में हीनयान धर्म था। ५वीं शती में ललंगों की राजधानी थातोन् (सुधम्मवती) और हंसावती में हीनयान बौद्ध धर्म का अस्तित्व वहाँ से प्राप्त पुरातान्विक सामग्री के आधार पर प्रमाणित होता है। उत्तरी बर्मा में ११वीं शती में अनुराधपुर (पगन्) के प्रसिद्ध राजा अनिरुद्ध (अनव्रज) के समय थातोन् से हीनयान का प्रचार उत्तरी

बर्मा में हुआ। पगान् इस समय तान्त्रिक महाबान का केन्द्र था। ये तान्त्रिक महापात्री 'अरि' नाम से प्रसिद्ध थे। इसी समय से हमें उत्तरी बर्मा के विशाल राज्य का सुनिश्चित इतिहास मिलता है। राजा अनिरुद्ध को इन अरियों के सशक्त विरोध का दृढ़ता से सामना करना पड़ा। अनिरुद्ध के वंशजों ने बर्मा को पगोडाओं से अलंकृत कर पावन तीर्थस्थली बना दिया। सर्वत्र विहार, पगोडा और स्तूप राजा और प्रजा की भद्रा तथा भक्ति का निदर्शन है। 'वानन्द पगोडा' अगत के आरूपकों में से एक है। इसकी शैलिमा के परिधान से अलंकृता बाह्य भव्यता है और अन्त्यन्तर तथागत के कल्याणकारी जीवन के चित्रांकन से मानवता की धर्मसंदेश देता है।

१२वीं शताब्दी में लंका में सीहल संघ की स्थापना हुई। ग्राम संघ और सीहल संघ में २०० वर्षों तक संपर्क चलता रहा। अन्त में सीहल संघ विजयी हुआ। समय-समय पर धर्म में अनन्य भद्रा रखने वाले राजाओं ने संघ का उद्धार भी किया। १५वीं शती में भिन्दु से राजा बने धम्मचेटि द्वारा किया गया सुधार उल्लेखनीय है।

अनन्तर के समय (११वीं शती) से ही पगान् और तलैंगों में वैमानस्य चला आ रहा था, किन्तु १६वीं से १७वीं शती में यह वैमानस्य प्रखर रूप में सम्मुख आया। यद्यपि दक्षिण तलैंगी की सन्धता को अपना कर ही उत्तरी बर्मा सम्य सुसंस्कृत बना था परन्तु इन्होंने तलैंगों को उठने का समुचित अवसर नहीं दिया। फलतः भीतर ही भीतर विरोध पनपता रहा। तलैंग देश में विहार और पगोडा भी बने, साहित्यिक ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ परन्तु उसको धर्म में विशिष्ट स्थान न मिल सका। १९वीं शती के आरम्भ में राजा बोधव्य ने धार्मिक मैदों को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। बोधव्य के शासनकाल में लंका में अमरपुर संघ की स्थापना हुई। अमरपुरसंघ बर्मा संघ था। ६२० वर्षों से सीहलसंघ के रूप में लंका के महाविहार की परम्परा बर्मा में अक्षुण्ण चली आ रही थी। अब लंका में संघ की स्थिति अच्छी न रही। लंका बर्माभिमुख हुआ। परिणामतः लंका में अलरपुर संघ की प्रतिष्ठा हुई। बर्मा का लंका को यह प्रथम प्रत्युपहार धार्मिक इतिहास में अनोखा है।

राजा पगान् मिन् (१८४६-५२ ई०) और मिन्दोन् मिन् (१८५२-७७ ई०) का युग बर्मा के धार्मिक साहित्य का सुवर्णयुग कहा जा सकता है। इस समय सर्वत्र शान्ति थी। संघ में विनय के नियमों के पालन में कठोरता कम होने लगी थी। भिन्दु स्वर्ण और चाँदी के पात्रों का प्रयोग करने लगे थे। वे बड़े

पहनने और छाता लगाकर गावों में भिक्षाटन करने निकलते। इस 'अविनया-मुलोमाचार' को लेकर संघ में विवाद खड़ा हुआ। राजा ने संघ के धरों की सभा बुलाई। अन्त में निश्चय हुआ कि सब भिन्दु विनय के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करने की शपथ महाबान् बुद्ध के सम्मुख लें।

मिन्दोन् मिन् ने सम्राट् अशोक का अनुकरण करते हुए सब शिक्षित धरों, महाधरों की सभा विधिदक के संशोधित संस्करण के लिए बुलाई। तीन वर्ष तक विद्वानों ने राजा के समापतित्व में अथक परिश्रम किया। राजा ने ७२६ राजाग्रम (संगमग्रं) की शिलाओं पर विधिदक का नवीन संशोधित संस्करण उत्कीर्ण कराया। आज भी ये शिवाएँ बर्मा में सुरक्षित हैं।

१८८५ ई० में अंग्रेजों ने राजधानी मायडोले पर अधिकार किया। अंग्रेज धर्मियों की धर्मनिष्ठा तोड़ने में असमर्थ रहे। बर्मा के धार्मिक नियमों की ध्यान में रखते हुये नियम बनाने पड़े। विहार में महाधर की शक्ति सर्वोपरि बनी रही। भिन्दुओं का दैनिक जीवन पूर्ववत् चलता रहा। किन्तु उनका राजनीति पर प्रभाव नहीं रहा। समाज में यूरोपीयता का समावेश हुआ। २०वीं शती में बर्मा स्वतन्त्र हुआ। अब बर्मा का राष्ट्रीय धर्म येरवार है। बर्मा भिन्दु भारत में तीर्थयात्रा के हेतु तथा अभ्यवनाथ आते हैं। भारत इनकी तीर्थभूमि है। भारतीयों के लिए प्रत्येक बर्मावासी सांस्कृतिक बन्धु और पड़ोसी है।

बर्मा के धार्मिक इतिहास को हम तीन कालों में बाँट सकते हैं। (१) बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रवेश और प्रोम से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर महाबान और हीनयान (१०वीं शती तक)। (२) पगान् काल में सीहल संघ की स्थापना। लंका के महाविहार की परम्परा के सिहली धरों का बर्मा के संघ पर प्रभाव। सीहल संघ के अनेक छोटे बड़े सम्प्रदाय। (३) उन्नीसवीं, बीसवीं शती में बर्मा का लंका को प्रत्युपहार—लंका में अमरपुर-संघ की स्थापना। धार्मिक साहित्य का सुवर्णयुग।

बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रवेश—बर्मा और भारत के मध्य स्थलमार्ग बहुत प्राचीन समय से था। पालि परम्परा के अनुसार भारत का पूर्वीय देशों से सम्पर्क ईसा से ५००, ६००, वर्ष पूर्व से ही था। भारतीय साहित्य में वणिजों की सुवर्णभूमि की यात्राएँ उल्लेखनीय हैं। इन्हीं सहस्री व्यापारियों के साथ भारतीय धर्म और संस्कृति का बर्मा में प्रवेश हुआ।

कुछ क्षत्रिय राजकुमारों ने भी साहसिक यात्राएं कीं। सुवर्णभूमि शब्द दक्षिण बर्मा के लिए प्रयुक्त होता था। राजा धम्मचेटि के कल्याणी अभिलेख में (१४४६ ईस्वी) में सुवर्णभूमि नतुसंखत रमस्सदेश है। अर्थात् सुवर्णभूमि रमस्सदेश है। बर्मा के १०७४ ई० के पो-उ-दउह् अभिलेख में 'सुवर्णपरन्त' (अर्थात् सुवर्ण भूमि का पश्चिमी सत्र) आता है। यह देश निम्न इरावदी और चिन्दविन् नदियों और आरकान् बोमा के बीच का प्रदेश है। प्योलिमी ने भी स्वर्णभूमि और स्वर्णद्वीप का उल्लेख किया है। डॉ० मजुमदार के अनुसार प्योलिमी का (स्वर्णद्वीप) मलय पेनिनसुला और (स्वर्णभूमि) दक्षिणी बर्मा के लिए है। महाजनक-जातक में राजकुमार महाजनक व्यापारियों के साथ समुद्रमार्ग से सुवर्णभूमि जाते हैं। सुप्पारक-जातक में व्यापारी मरुक्ख से सुवर्णभूमि की यात्रा करते हैं। कौटिल्य ने भी अर्धशास्त्र में सुवर्णभूमि में मिलने वाले अमूल्य अमर पदार्थ का वर्णन है। मिलिन्दपञ्च नामक ग्रन्थ में समुद्रपार स्थित तपोला और चीन साहित्य में सुवर्णभूमि का उल्लेख है। महाकर्मविभङ्ग में भनकोसनी और ताम्रलिप्ति से स्वर्णभूमि जाने वाले भारतीय व्यापारियों का वर्णन है। दिग्भाषचान और महानिरोध जैसे प्रथित बौद्ध ग्रन्थों में स्वर्णभूमि तक पहुँचने की कठिन मार्गबाधाओं का वर्णन है। डॉ० मजुमदार सम्प्रमाण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय साहित्य (पौराणिक और बौद्ध) में सुवर्णभूमि बर्मा, मलाया और सुमात्रा के लिए प्रयुक्त हुआ है। और सुवर्णद्वीप सुमात्रा तथा अन्य इण्डोनेसिया के द्वीपों के लिए।^१ अस्तु।

ये व्यापारिक सम्बन्ध धार्मिक सम्पर्कों के लिए महत्वपूर्ण हैं। बर्मा परम्परा के अनुसार अशोक के राजगुरु महाश्वर मोग्गल्लिपुत्र ने शेर सीण और शेर उत्तर को बर्मा में धर्मप्रचार के लिए भेजा। यह परम्परा सिंहली ग्रन्थ दीप-वंश और महावंश में ही हुई है। इस कथन की सत्यता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अशोक के शिलालेखों में इस घटना का उल्लेख नहीं है। काश्मीर का भी अशोक के अभिलेखों में उल्लेख नहीं परन्तु महावंश द्वारा वर्णित वहाँ पर अशोक के धर्मदूतों की घटना सत्य प्रमाणित ही चुकी है। अतः सम्भावना है कि इस परम्परा में सत्यता हो।

तीसरी शती में नागार्जुन कोण्डा से प्राप्त तीसरी शती के अभिलेख में चीन के साथ चेलात देश का नाम है। चिंलात^२ सम्भवतः संस्कृत 'किरात' शब्द है। रामायण में ये किरात बंगाल की खाड़ी के पूर्व में रहने वाली जाति

१—सुवर्णद्वीप भाग १, पृ० ५८,

२—निहार रंजन रे, शेरवाद बुद्धधम्म इन् बर्मा, पृ० १५०००।

थी "किराता द्वीपवासिनः" बृहत्संहिता के कूर्म विभाग में भी किरातों का चीन के साथ उल्लेख ध्यानाकर्षित करता है। प्रो० नीहार रंजन रे के अनुसार यदि किरात देश का प्रयोग आरकान् और दक्षिणी बर्मा के लिए हुआ है तो निश्चित है कि तीसरी शती से पूर्व बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका है।

चीनी ग्रन्थों में चिन्-लिन् (सुवर्णभूमि) का अनेक स्थानों पर वर्णन है। चिन्-लिन् सम्भवतः चिन्-छेन् का ही दूसरा नाम था। वह कुनान् से २००० ली की दूरी पर था। किङ्-वाई के यात्रासंस्करणों में (तीसरी शती) लिन्पाह् में सब लोग बुद्ध की पूजा करते थे। लिन्पाह् चिन्-लिन् से २००० ली की दूरी पर था। कुनान् से लिन्पाह् दक्षिण पश्चिम में ७००० ली की दूरी पर था। इस तथा अन्य प्रमाणों का निष्कर्ष है कि चिन्-छेन् अथवा चिन्-लिन् बर्मा का यातोन् प्रदेश है। प्रो० नीहार रंजन रे के अनुसार लिन्पाह् सम्भवतः प्राचीन प्रोम के लिए अथवा उससे कुछ ऊपर के प्रदेश के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार तीसरी शती में यातोन् और प्रोम में बौद्ध धर्म फैला था।

बर्मा परम्परा के अनुसार पालि बौद्ध साहित्य के प्रथित टीकाकार बुद्ध-धोप यातोन् में जन्मे थे। उन्होंने ४०० ई० में लंका की यात्रा की। लंका से बुद्धधोप के लौटने की तिथि की स्मृति में बर्मा में नया संघत् प्रारम्भ किया गया। बुद्धधोप ने मगधानये में लिखे पालि त्रिपिटक को तल्लै अक्षरों में लिखा। उन्होंने ही कच्चायन के पालि व्याकरणों को लंका से लाकर उसका बर्मा में अनुवाद किया। मनु का बर्मा में प्रचार करने का यश इन्हीं को प्राप्त है। धम्मचेटि के कल्याणी अभिलेख में बुद्धधोप का यातोन् जन्म का उल्लेख नहीं है। लंका के ग्रन्थों में बुद्धधोप पर इस घटना का उल्लेख न होने से विद्वानों में इस परम्परा के प्रति संदेह है।

इससे प्राप्त पुरातात्विक सामग्री—प्राचीन प्रोम के दक्षिण में ५ मील की दूरी हर स्रवण नामक स्थान से तथा आस पास की खुदाइयों से यह प्रमाणित हो चुका है कि ५वीं, ६ठी शती में वहाँ पर वैश्वदेव का पालि बौद्ध धर्म प्रचलित था। क्योंकि पालि में लिखे प्रसिद्ध ग्रन्थों के उद्धरण वहाँ से प्राप्त अभिलेखों में कदम्ब लिपि में लिखे हैं। प्रथम—दो स्वर्णपट्टों पर उल्कीर्ण अभिलेखों के प्रारम्भ में ये धर्मा हेतुप्रमथा से प्रारम्भ होता है। इनमें अभिधम्म के तत्त्वों की सूची है और अन्त में अंगुत्तरनिकाय के प्रसिद्ध विरान को नमस्तुति है। बुद्धधोप ने अंगुत्तरनिकाय पर टीका लिखते हुए

उत्कल के व्यापारी को इसावती प्रदेश अक्षिताजन का निवासी कहा है। घम्मसंगति अर्थात् विभङ्ग से पटिन्चसमुप्यादसुत्त, विनय और अभिधम्म विटक से कारण परम्परा उद्धृत है। समीपस्थ बन्धविय्य पयोडा का पुनरुद्धार करते समय (१६१०) में पालि में लिखी दो शिलालेख तथा एक खड्ग पर लिखे अभिलेख अभिधम्म के ग्रन्थ घम्मसंगति अथवा विभंग से उद्धृत अंशों का संग्रह है। इसमें 'घम्मा कुसला' तथा 'घम्मा अकुसला' घम्मसंगति से हैं। परन्तु ये टिप्पण रूप में हैं और सम्भवतः मिथुओं के स्मरण करने के लिए थे। परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है २० सुवर्ण पटों पर एक ओर लिखा हुआ इस्तलेख। पहले १२ पृष्ठों पर ३ पंक्तियाँ, १६ वें पृष्ठ पर चार पंक्तियाँ और २० वें पृष्ठ पर २ पंक्तियाँ हैं। इन २० पृष्ठों में पालि त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों से नौ उद्धरण दिये हैं। पहला है—सिद्धम् अविजापच्चया संवार संवारपच्चया विजानं विजानपच्चया नामरूपम् नामरूपपच्चया सदायतनम् सदायतनपच्चया फस्तो फस्तपच्चया वेदना वेदनापच्चया तन्ह तन्हपच्चया उपादान उपादानपच्चया भवो भवपच्चया जाति जातिपच्चया जरामरणम् सोकपरिदेन दुक्खदो मनस्सु पाचाळे सम्भवन्ति—इसमें पटिन्चसमुप्यादसुत्त हैं जिसमें १२ निदानों का वर्णन है। यह पालि के अनेक ग्रन्थों—(मक्खिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, संयुक्तनिकाय, अभिधम्मविटक के विभंग में) दिये हैं। दूसरे उद्धरण में ७ प्रकार के विषम-सना जानों का वर्णन है। (विशुद्धिमन्त्र में आठ और अभिधम्मार्थसंग्रह में इनकी संख्या १० है।) इस सुवर्णपट्टोलिखित उद्धरण में विशुद्धिमन्त्र का परितस्सलानुपसज्जा तान को छोड़कर शेष उद्धृत हैं। तीसरे उद्धरण में सद्धम्म के आर्ष अष्टाङ्गिक मार्ग दिये हैं—ये उदान और निकाधों में मिलते हैं। चौथे में बुद्ध के चार सारज्ञान दिये हैं। ये मक्खिम निकाय के महासिंहनाद सुत्तन्त और अंगुत्तरनिकाय में चतुष्कनिपात के अन्तर्गत दिये हैं। ५वें में बुद्ध के १४ जानों का वर्णन है जो—सुद्धकनिकाय के पटिस्सम्भियामग्ग में हैं। ६ठे में घम्म के श्लोक २०३ हैं। सातवें में तमागत बुद्ध की शिष्यों (तीन कस्सप माइयों) के साथ राजपट्ट की ओर यात्रा है। बुद्ध के जीवन का यह कथांश विनयपिटक, ज्ञातकाट्टकधादि में दर्शनीय है। आठवें में विनयपिटक से उद्धृत श्लोक है—

योषिरो सन्धविदन्तो सुद्धो अपतिपुग्गलो।

अरहं सुगतो लोके तस्सहं परिचरको ति ॥

भर्मे में दीधनिकाय के महापरिनिव्यान तुत्त की प्रसिद्ध बुद्ध स्तुति है—इति पि सौ मग्गा अरहं संमासम्बुद्धो विजाचरण सम्बधो सुगतो लोकविदु अतुत्तरो पुरिसदम्मसारायी सत्था देवमतुत्ताना बुद्धो मग्गाति। अभिधम्मदु। और मी अभिलेख मिले हैं। इन अभिलेखों की विशेषता है कि ये कहीं भी ग्रन्थों से अक्षरगत नहीं मिलते। शब्द के समीप ही कपुन्दल्ल ग्राम में स्वर्णपट्ट मिला है। इसमें भी बुद्ध की स्तुति है। इन सब अभिलेखों की लिपि कदम्ब है जो ५वीं शती में भारत के प्राचीन कुत्तल (कन्नर प्रान्त) और आन्ध्र प्रान्त के कदम्बों और चालुक्यों द्वारा प्रयुक्त की गई है। इसप्रकार निर्दिष्ट है कि ५वीं शती में बर्मा के इस भाग में पालि धेरवाद प्रतिष्ठित हो चुका था। पालि त्रिपिटक के ग्रन्थों का अध्ययन होता था और बर्मा का यह धर्म दक्षिण भारत के आन्ध्र-कुत्तल-पल्लव प्रदेशों से गया था। उस समय भारत में अमरावती, नागार्जुनकोण्डा, कांचीपुर, कावेरीपट्टनम् के धेरवाद बौद्ध केन्द्र प्रसिद्ध थे। इन सब स्थानों का बुद्धपौत्र की परम्परा से अनन्य सम्बन्ध रहा है। अतः नीहाररंजन रे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बर्मा में धेरवाद बौद्ध-धर्म दक्षिण भारत से गया था न कि सिंहल से। शब्द से बुद्ध की मूर्तिर्पि और स्तूपवि भी मिले हैं। लंका के इस समय के ग्रन्थों अथवा अभिलेखों में बर्मा का उल्लेख नहीं मिलता। बर्मा के इस काल में लंका के साथ सम्बन्ध नहीं था।

६७५ से ७०० ई०—प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिङ् ने यद्यपि बर्मा की यात्रा नहीं की परन्तु अपने यात्रा-विवरण में इन देशों के विषय में लिखा है—धोच्चेन (प्रोम) और लक्ष्मिवा शु (कामलका अथवा लंकाशु) के बौद्ध हीनवान के स्थ-विरवाद निकाय के अनुयायी थे। विद्वान् नीहाररंजन रे के अनुसार ५वीं शती में प्राचीन प्रोम के आसपास सर्वास्तवाद निकाय के अनुयायी भी थे। ये अपने ग्रन्थों में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे।

याह् वंश के इतिहास के अनुसार प्यु लोगों के नाम मिले हैं। मृत्तिका स्तूप पर उत्कीर्ण एक पंक्ति प्यु अभिलेख में भी प्रसुवर्मा और प्रसुदेवी के नाम दिये हैं। विद्वानों का मत है कि प्यु के राजा दक्षिण भारतीय थे। उनका चोलपल्लवों से सम्बन्ध था। पल्लववंश के राजाओं के नामों के अन्त में बर्मा शब्द का प्रयोग होता है। सम्भवतः बर्मा और विक्रम दो वंशों का यहाँ राज्य था। संस्कृत में लिखा लम्बा अभिलेख भी यहाँ से मिला है जिसकी लिपि गुप्त ब्राह्मी है। बीच बीच में प्यु भाषा में संस्कृत शब्दों के

अर्थ दिये हुए हैं। (इस शब्दभ्रम में उल्लेखनीय है कि प्यु लिपि भारतीय ब्राह्मी का रूपान्तर है)। यह अभिलेख वज्रपर्यकासन में स्थित बुद्धमूर्ति को स्नान मुद्रा में है के आसन पर उत्कीर्ण है। जयचन्द्रवर्मा ने अपने गुफ के आदेश से 'पुरद्वय' बनाने वाले अपने 'अनुज' हरिविक्रम के साथ शान्ति बनाये रखने के लिये इस मूर्ति की प्रतिष्ठा की। स्पष्ट है कि विक्रम और वर्मा नामान्तधारी राजा दो वंशों के न होकर एक ही वंश के थे और उन्होंने भारतीय धर्म और सभ्यता के साथ साथ भारतीय नाम अपना लिये थे। वे बौद्ध धर्मानुयायी थे। स्वतापुत्र स्तूप जिस पर चार बुद्ध विभित हैं तथा जिनके नाम पालि भाषा में कोनागमन, ककुत्स्थ, कस्तप, और गोतम और उनके भावक कस्तप मौलान (मोगल्लान), सारि और अनन्द हैं। इस प्रकार उस युग की धार्मिक भाषा निरिचत रूपेण पालि थी।

संस्कृत में लिखे अभिलेख, उत्तर गुप्त तथा पाल शैली की मूर्तियों से उत्तर भारत के साथ वर्मा के सम्बन्धों का ज्ञान होता है।

पेगु अथवा हंसावती—वर्मा के दो और प्रदेश पेगु (हंसावती) और थालोन् में भी हीनयान बौद्धधर्म था। दूरे निदान जातकों तथा अंगुत्तरनिकाय की टीका मनोरथपुराणों में हंसावती का उल्लेख है। मुवाता अपने पूर्वजन्मों में हंसावती में उत्पन्न हुई थी। उपासिका विन्ता की जन्मभूमि के अधीन १८ राज्यों का उल्लेख है। प्यु लोगों की राजधानी श्रीक्षेत्र थी। चीनी वर्णन के अनुसार यहाँ के लोग हिंसा से घृणा करते थे। वे ज्योतिष गणनाएँ जानते थे। वे बौद्ध थे। वहाँ पर १०० विहार थे। ७ वर्ष की आयु में बालक का मुरहन करा कर संघ में प्रवेश करते थे। और यदि बीस वर्ष तक की आयु में वे धर्मसिद्धान्तों को ग्रहण करने में असमर्थ होते तो पुनः घरस्थाश्रम में आ जाते थे। वे सुती वस्त्रों का प्रयोग करते थे। वे कौशेय के वस्त्र नहीं धारण करते थे क्योंकि उनमें हिंसा होती है। इस विवरण में १०० विहारों का शान्दिक अर्थ न लेकर अनेक विहार से तात्पर्य है। इस प्रकार वर्मा के बौद्धों में अहिंसा का विशेष आग्रह था। ७वीं, ८वीं शती में मूलसर्वास्तिवाद निकाय का प्यु लोगों में प्रचार था।

छठी से दसवीं शती तक की बहुत सी पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध है। हावज खण्डहरों का ग्राम है जहाँ से अनेक धातु मूर्तियाँ, मिट्टी की टिकियाँ आदि मिली हैं। इन्हीं खण्डहरों में वेवे, लेमेयर्न और यहन्गु बुद्धपूजा के केन्द्र थे। उनकी वास्तुकला को देखते हुए वे ७वीं ८वीं शती के पश्चात् के नहीं हो सकते। यहाँ से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियाँ और मिट्टी की टिकियों पर खुदे

अभिलेखों से उत्तर पूर्व भारत के उत्तर गुप्त काल की कला का प्रभाव इन पर स्पष्ट है। लिपि भी पूर्व नागरी है। उदाहरणार्थ पूर्वजैगु मन्दिर की बुद्ध मूर्ति सारनाथ के मृगदाव में धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में है। सर जॉन् मार्शल के अनुसार यह ७वीं शती के पश्चात् की नहीं हो सकती। प्यु लोगों की इस विस्तृत क्षेत्र में फैली राजधानी श्रीक्षेत्र से अर्भी भी वस्तुएँ मिल रही हैं। मूर्तियाँ प्रस्तर अथवा कांस्य की हैं। अभिलेखों की भाषा प्यु, पालि और संस्कृत है। लिपि कदम्ब तेलगु अथवा उत्तरपूर्व भारत की गुप्त ब्राह्मी है। शैली और लिपि के आधार पर विद्वानों ने इन उपलब्धियों का काल ७वीं से १०वीं शती तक निश्चय किया है। पवांग पगोडा के समीप से मिले अस्थिच्छलों पर उत्कीर्ण प्यु भाषी अभिलेखों में खुरियाविक्रम, हरिविक्रम, सीह-विक्रम राजाओं के नाम हैं। सुधम्मवती में सहस्रों की संख्या में शेरवाद धर्म और दर्शन के अन्वयपरत भिक्षु थे। विहारों के पुस्तकालय बहुत समृद्ध थे। शक्तिवाली राजाओं के आश्रम में धर्म फल-फूल रहा था। विभिन्न संघ थे जिनमें परमथ और गुमती भी है। धर्मभाषा पालि थी। विजेता राजा ने विजित राजाओं की धर्म और संस्कृति को पूर्ण मनोयोग से अपनाया, (अपने राज्य में विस्तार किया) धनी, निर्धन, राजा, प्रजा सभी ने धार्मिक पुण्यकार्यों में दत्तचित्त से योग दिया।

शिव अर्हन् शेरवाद के धर्म में निष्ठात तल्लंग भिक्षु था। वह तम्पदीप (पगन्, अब, पिन्व, न्याक्षिपन्) में धर्मप्रचार के हेतु पगन् आया। एक दिन वह अनजानत सम्मुख लाया गया। अपने प्रश्नों का बहुत सुन्दर सार-गर्भित उत्तर पाकर राजा बौद्ध धर्म से अभिभूत हो उठा। राजा ने उसको वन में विहार बनाकर उपहार दिया। इस समय तान्त्रिक महायान से परिपूर्ण और सप्रदाय की बहुत शक्ति और प्रभाव था। अब वह क्षीण होने लगा। शासनवंश में इन अरिषों को संघर्षकुहक कहा है। राजा ने ३० अरिसप्रदाय के अन्वयों और उनके ६० सहस्र शिष्यों का वसन किया। धातोन् से धर्म-प्रचारार्थ सिद्धित बौद्ध भिक्षुओं को आमन्त्रित किया गया। किन्तु पगन् में ग्रन्थों का अभाव था। बिना अध्ययन के साधना और ध्यान सम्भव नहीं। शिव अर्हन् ने राजा को बताया कि धातोन् में ३० त्रिपिटक हैं और बहुत से धातु हैं। राजा ने उपहार देकर अपने मन्त्री को धातोन् के राजा मनुहा के पास ग्रन्थ और धातु लाने के लिए भेजा। किन्तु प्रतिकूल उत्तर पाकर अनजानत ने धातोन् पर जल और थल मार्गों से आक्रमण किया। धातोन् जीत लिया गया। राजा मनुहा, उसका परिवार तथा मन्त्री बन्दी बना लिये गये। किन्तु अनजानत

को धातु को जीतना न था। वह ग्रन्थ चाहता था, पढ़े लिखे विद्वान् भिक्षु और धातु चाहता था। अतः वह धातु के राजाओं द्वारा पुजित धातुओं को मणिचटित मल्ला अर्थात् अपने साथ लाया। त्रिपिटक के ३० संग्रह बत्तीस श्वेत हाथियों पर रत्न कर लाये गये।

सब प्रकार से साधनसम्पन्न शिन् अर्हन् कुछ ही समय में सहस्रों लोगों को बौद्ध बनाने में सफल हुआ। उत्तरी बर्मा में थेरवाद बौद्ध धर्म फैल गया। इस प्रकार ११वीं शती तक बर्मा के तीनों प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों में थेरवाद, महायान और ब्राह्मणधर्म के अस्तित्व की पुष्टि पुरातात्विक वस्तुओं से होती है। ब्राह्मणधर्म कभी भी बुद्धधर्म के समान लोकप्रियता अथवा राज्याश्रय न पा सका जब कि बन्धा और कम्बुज दोनों ही राष्ट्र शैव धर्मावलम्बी थे।

अरिमर्दनपुर (पगन्काल) (१०५७ से १५८० ई०)—बर्मा के इस युग के धार्मिक इतिहास को जानने के लिए पर्याप्त सामग्री है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजा धम्मचेदि द्वारा (१४७२-८२) कल्याणी सीमा पर दस बड़ी शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये शिलालेख हैं। लंका के ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश और चूलवंश तथा बर्मा के गम्भवंश और शासनवंश में बर्मा के पालि साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। पियकल्पमैन् १६०६ ई० में लिखा गया ग्रन्थ है—यह रंगून में लिखे गये बौद्ध ग्रन्थों का सूचीपत्र है। इसके अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं जिनमें 'छान्दन् वाजविन्' सर्वाधिक प्रमाणिक माना जाता है। यह १८२६ में लिखा गया। पालिग्रन्थों का प्रणयन अरिमर्दनपुर युग की विशेषता है।

१०५७ में अनज्जत्त द्वारा धातु के विजयप्राप्ति के पश्चात् शिन् अर्हन् के प्रयत्नों से सैकड़ों लोग बौद्ध बन गये। लंका में भी बर्मा के शुद्ध पवित्र शास्त्रमुनि के धर्म की प्रसिद्धि हुई। सिंहली राजा विजयबाहु ने चोलों के विरुद्ध बर्मा के राजा से सहायता मांगी। परन्तु सहायता पहुँचने से पूर्व ही विजयबाहु विजयी हुआ। उसने लंका में पुनः धर्म की प्रतिष्ठा करनी चाही परन्तु (लंका में चोल राज्यके कारण) धार्मिक ग्रन्थों और भिक्षुओं के अभाव में यह कठिन था। विजयबाहु ने ग्रन्थ और भिक्षुओं की मांग की। धर्मनिष्ठ राजा ने धर्मप्रसार के लिए सहस्र एक श्वेत हाथों पर ग्रन्थ लंका भेजे। और बदले में दन्तधातु मांगा। विजयबाहु ने दन्तधातु की प्रतिकृति अनज्जत्त को भेजी। इपर राजा ने उसके लिए विशेष स्तूप का निर्माण प्रारम्भ कराया। यह भव्य स्तूप उसके पुत्र के राज्यकाल में पूरा हुआ। किन्तु राजा अनज्जत्त

ने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया और कहते हैं कि प्रत्येक में दन्तधातु सुरक्षित है। अनज्जत्त की हार्दिक प्रार्थना के कारण एक ही दन्तधातु अनेक हो गये थे।

त्रिपिटक की लंका के त्रिपिटक से तुलना—अनज्जत्त ने अपने चार धर्माचार्यों को लंका त्रिपिटक लाने के लिये भेजा और उसके आने पर शिन् अर्हन् ने उसकी सुषग्मनगर (धातु) में प्राप्त त्रिपिटकों से तुलना की। लंका का संस्करण अधिक शुद्ध था। शिन् अर्हन् ने आवश्यक संशोधन किये।

किन्निधा—अनज्जत्त के उत्तराधिकारी किन्निधा ने श्वेत्विग्नोन् का स्तूप पूरा किया परन्तु उसका स्मरणीय कार्य बर्मा कला का मणि आनन्द मन्दिर का निर्माण है। इसका श्वेत शिखर सूर्य की प्रखर किरणों से आलोकित अपनी यश किरणों से जगत् में प्रसिद्ध है। इसके भीतर तथागत बुद्ध की विशाल प्रतिमा के सम्मुख घुटने टेके हुए स्वयं राजपरिधान में राजा किन्निधा है और भिक्षु तथा राजगुरु शिन् अर्हन् की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर की भीतरी भित्तियाँ वातकों और निदानकथाओं से सजीव हैं और धर्मोपदेश कर रही हैं। समस्त वातावरण दर्शकों को अनायास धर्मात्मा से भर देता है। और वे भी बर्मा के सम्राट् और महान् धर्माचार्य शिन् अर्हन् के समान तथागत को साक्षात् प्रणाम करने मुक्त जाते हैं। इसी मन्दिर के पवित्र प्रांगण में आचार्य धम्मसेनापात्त ने पालि व्याकरण पर 'कारिका' नामक ग्रन्थ लिखा (गम्भवंश के अनुसार)। इसकी प्रेरणा उसे पगन् निवासी भिक्षु ज्ञानगम्भीर से मिली थी। उनकी दो अन्य कृतियाँ 'ऐतिमासामिधीपनी' और 'मनोहार' हैं।

बोधगया का उद्धार—धर्मप्रवण राजा किन्निधा ने मणियों का संग्रह कर उन्हें बोधगया के स्तूप के पुनरुद्धार के लिए जलपान से भेजा। बर्मा के बौद्धधर्म में यह अपूर्व घटना है। राजा की मृत्यु पर उसके प्रिय पुत्र राजकुमार ने पगन् के दक्षिण में स्थित म्बन्धेय पर्वत में चतुर्मुख शिलालेख चारों मायाओं पालि, तर्लैंग, प्यु और बर्मी में स्थापित किया। इस शिलालेख के अनुसार १६२८ में धार्मिक वर्ष में किन्निधा अरिमर्दन पुर के राज्य पर बैठे। २८ वर्ष पश्चात् राजा रोगी हुये। राजकुमार ने जो राजा की प्रिया (रानी नहीं) का पुत्र था बुद्ध की एक सोने की मूर्ति बनवा कर राजा के सामने अर्पित की और राजा द्वारा दिये तीनों मार्गों की बुद्ध की समर्पित करने की अद्भुत व्यक्त की। इस बुद्ध मूर्ति का, मोगालिपुत्र तिरस, सुमेध, ब्रह्मादिव्, सोण और संलसेन आदि महाथेरों के सम्मुख राजा ने अलसेचन किया। राजकुमार

ने स्वर्णशिवरमण्डित गुफा बनवा कर उसमें बुद्ध की स्वर्णप्रतमा प्रतिष्ठित की और मन्दिर को राम सन्मुनलोन रण्, हेन्नुशु के दास भेंट किये। यही मन्दिर 'श्वयोधि' पगोडा के नाम से प्रथित है।^१

११५० में ८० वर्ष की आयु में अलौंगसिधु के राज्यकाल में शिन् अहंन ने निर्वाण प्राप्त किया। इनका उत्तराधिकारी पन्थगु धर्मनिष्ठ राजा अलौंगसिधु का गुरु बना। आरकान् के राजकुमार लेव्याभिन्न ने राजगुरु के आदेशानुसार बोधगया में 'वज्रासन' के भवन का पुनरुद्धार कराया। ध्यानपूर्वक सम्पन्न किये गये इस धर्मकार्य का वर्णन तत्परथ शिलालेख पर उत्कीर्ण मिलता है। राजा अलौंगसिधु ने ११४४ में यतिपुत्र (सन्धा) तथा श्वेगु स्तूप बनवाये। श्वेगु की मिति पर सुमधुर गेय पदों में उत्कीर्ण पालि अभिलेख में राजा की धर्म भावनाओं और बौद्ध आचार संहिता के दिग्दर्शन होते हैं।

राजपुत्रों नरथु और मिन्वान्सी के स्वर्ण की समाप्त करने के लिए नरथु की प्रार्थना पर गुरु पन्थगु ने मध्यस्थता की परन्तु झगड़े के बीच पड़ने का परिणाम बुरा हुआ। पन्थगु को बर्मा छोड़कर लंका जाना पड़ा। घटना इस प्रकार है—पिता की मृत्यु पर नरथु राजा बना। मिन्वान्सी पिता की मृत्यु का समाचार पाते ही अपनी सेना सहित पगन् की ओर चला। नरथु ने दुर्नितिपूर्ण चाल चली। वह अरिमर्दनपुर में भगवान् के समान स्तूप और पूजित गुरु पन्थगु के समीप आया और गुरु से कहा कि वह युद्ध नहीं चाहता, बड़े भाई राजा बनें। वह स्वर्ण उसकी सहायता के लिए उसके पास रहेगा। मैंने राजा बनकर अपराध किया है अब आप भाई को समझा कर सब ठीक कर दें, मैं शपथपूर्वक कहता हूँ। सरल और शुद्ध हृदय पन्थगु ने नरथु की शपथ पर विश्वास किया। मिन्वान्सी राजगुरु के वचनानुसार अकेला चला आया। जब वह पगन् पहुँचा, नरथु ने उसका स्वागत किया और उसे सिंहासन पर बिठा दिया। परन्तु रात्रि के भोजन में विष देकर उसे चिरनिद्रा में सुला दिया। अगले दिन नरथु राजा बना और भोली प्रजा ने मृत्यु की स्वाभाविक समझ इस नये राजा को अपनी राजभक्ति समर्पित की। परन्तु पन्थगु इस नरशास कार्य से व्यथित और क्रोधबुद्ध होकर (११६७ में) लंका चले आये।

नरपतिसिधु (११७३-१२२० ई०)—नरथु का पौत्र नरपतिसिधु ११७३ में राजा बना। धार्मिक दृष्टि से नरपतिसिधु का शासनकाल विशेषतः सन्नीय है। राजा ने बहुत से धर्मकार्य किये। इसके द्वारा बनाये अनेकों विहारों में गन्द-

अपलिन्, सुलमणि, और इम्मपयजक के बड़े मन्दिर प्रथित हैं। छोटे मन्दिरों में कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य मिन्किवयन्नी और बौष्पल के मन्दिर हैं। उसने विद्वजगत् को सब सम्भव सहायता को। इसके समय में बहुत सा साहित्य लिखा गया। राज्य शान्ति और समृद्धिपूर्ण था। भिक्षुओं का धार्मिक जीवन स्वाध्यायमय था। इधर राजगुरु पन्थगु भी ११७३ में पर लौटे आये। राजा ने ६० वर्ष की आयु के इस परमबुद्ध विद्वान् राजगुरु को उनके पूर्वपद पर सादर प्रतिष्ठित किया। किन्तु इनके शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करने पर ललंग के भिक्षु और शिन् अरियवश के शिष्य उत्तरजीव महाधेर बने। ये भी शिन् अहंन के समान ही स्वर्ण की सौण और उत्तर धरों की आचार्यपरम्परा से सौधा सम्बद्ध मानते थे।

इस समय लंका में राजा पराक्रमवाहु ने संघ से अवाञ्छित तत्त्वों को निकाल कर उसकी पवित्रता और स्वाध्याय में बाध कर पुनः द्वीप में धर्म-जाग्रत की। लंकासंघ के यथोगान से प्रभावित उत्तरजीव ने लंका की दीर्घ यात्रा शिष्यों सहित की। इनके शिष्यों में चपट विरोध स्मरणीय है। इन्होंने सिंहली संघ में (जहाँ के आचार्य शिन् महिन्द को परम्परा में थे) उपसम्पदा ग्रहण की। इस घटना का बर्मा संघ पर अत्यधिक प्रभाव हुआ। इसने बर्मा संघ की अपेक्षा सिंहली संघ की श्रेष्ठता सिद्ध की। बर्मा भिक्षुओं में सिंहली संघ के लिए आदर बहुत पुराना है। शिन् अहंन ने ही सिंहली त्रिपिटक की शुद्धता स्वीकार की थी। अस्तु। चपट अपने गुरु उत्तरजीव के साथ नहीं लौटे वरन् लंका में १० वर्ष तक त्रिपिटक और टीकाओं का अध्ययन करते रहे। वे महाधेर के पद पर पहुँच गये। पर (पगन्) लौटते समय उनके सम्मुख प्रश्न था कि महाधेर उत्तरजीव के निर्वाण प्राप्त करने पर उन्हें स्वर्ण बर्मा संघ के नियमानुसार महाधेर बनना होगा परन्तु वे ऐसा नहीं चाहते। और 'पंच वग्गमन' के बिना सिंहलसंघ के अनुसार वे यह पद ग्रहण नहीं कर सकते। अतः उन्होंने निश्चय किया कि त्रिपिटकाचार्यों के साथ बर्मा लौटें। ताम्बालसि के निवासी महाधेर सिविलि, कम्बोज राजा के पुत्र महाधेर तामलिन्द, कांचीपुर के निवासी महाधेर आनन्द और लंकावासी महाधेर राहुल के साथ वे बर्मा (११८१-८२) लौटे। कुछ ही दिन पूर्व उत्तरजीव की मृत्यु हुई थी। राजा नरपतिसिधु के हृदय में लज्जा के संघ के लिए बहुत अधिक आदर था। चपट ने अपने चार शिष्यों की सहायता से बर्मा में सीहलसंघ की स्थापना की। और राजा की सहायता से सहस्रों लोगों ने सीहलसंघ के अनुसार उपसम्पदा ग्रहण की। बर्मा के संघ में इसके विरुद्ध विद्रोह उठा परन्तु

'भरम्भ-संघ' की स्थिति क्षीणतर होती गई। उसे राष्ट्राध्यक्ष नहीं प्राप्त था। दूसरे लोगों ने लंका के लिए आदर की भावना बहुत अधिक थी। चण्ड द्वारा संस्थापित सम्प्रदाय 'पञ्चगण' और बर्मा का प्रार्थनसंघ 'परिगमन' कहलाया।

सीहलसंघ में भेद—बर्मा के ऐतिहासिक ग्रन्थों और कल्याणी सीमा के महात्वपूर्ण षोडशोत्तरी में सीहल संघ के चारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। शासन वंश में इसका संक्षिप्त वर्णन है। शीघ्र ही चार महाधैरों में विनय के नियमों के पालन में बर्ती जाने वाली कठोरता को लेकर वाद विवाद उठा। पाँचवा महाधैर राहुल एक सुन्दरी के प्रति आकर्षण होने पर मलयदीप चला गया जहाँ पर मलय के राजा ने उससे युद्धशिक्षा का लंका तथा उस पर लिखी टीका का अध्ययन किया। राजा से उपहार स्वीकार कर वह मित्तु-जीवन छोड़कर गृहस्थ बन गया। इस प्रकार राहुल का संघ से निकलना सीहल संघ के लिए अकीर्तिकर हुआ।

शीघ्र ही चण्ड की मृत्यु हो गई। अब शिवलि, आनन्द और तामलिन्द महाधैर पुत्रादि के संघ का संचालन करते रहे। एक बार राजा ने तीनों महाधैरों को एक-एक श्वेत हाथी भिक्षा में दिया। विनयनाशुलार शिवलि और तामलिन्द ने हाथियों की जंगल में लेजाकर मुक्त कर दिया। परन्तु आनन्द ने उसे कांचीपुर अपने सम्बन्धियों के पास भेष दिया। इस विनय-विरोध के कारण आनन्द पृथक् कर दिया गया और वह अपनी उपसम्प्रदाय पृथक् करने लगा।

कुछ समय पश्चात् तामलिन्द ने अपने बुद्धिमान् शिष्यों के लिए कह सुनकर कुछ सुविधाओं का प्रबन्ध करवा दिया। शिवलि ने इसे 'वाचिकिति' कहा और विनय के नियमों के प्रतिकूल बताया। फलतः शिवलि ने अपना सम्प्रदाय पृथक् कर लिया। अब अरिमर्दनपुर में चार सम्प्रदाय हो गये। (१) लिन् अर्हन् द्वारा संस्थापित (२) शिवलि का सम्प्रदाय (३) तामलिन्द और (४) आनन्द का सम्प्रदाय। शेष तीन सम्प्रदाय सीहल संघ के भेद थे।

तलैंग में सीहलसंघ—आनन्द और शिवलि की शिष्य परम्परा में मेधावी आचार्यों की प्रतिभा और सुहृद्बुद्ध से सीहलसंघ का तलैंग (दक्षिणी बर्मा) देश और मत्तवान् में प्रचार हुआ।

तलैंगों के लंका से सम्बन्ध बहुत पहले से ही चले आ रहे थे। सीघ और उत्तर महाधैरों की आचार्यपरम्परा वहीं अच्युतया बनी थी। उनके प्रसिद्ध केन्द्र दल और मत्तवान् में थे। दल प्रान्त का निवासी सारिपुत्त इसी परम्परा में धम्मशेर था। अरिमर्दनपुर में आनन्द महाधैर से उपसम्प्रदाय ग्रहण कर वह लंका के महाविहार की परम्परा का अनुयायी बना। धम्म और विनय में उसका गहन अध्ययन था। राजा नरपतिसिधु ने उसे धम्मविज्ञानधैर की उपाधि से अलंकृत किया और मोन् देश में धर्मप्रचार के लिए भेजा। इसने मोन् देश में 'सीहलपक्कभिककुसंघ' की स्थापना की। पूर्व का संघ 'अरिपारहन्तपक्कभिककुसंघ' कहलाया।

शीघ्र ही यहाँ का सीहलसंघ पाँच उपसम्प्रदायों में बंट गया। अरिमर्दनपुर में भी यहाँ दुष्ठा था। यद्यपि मूलरूप से सभी महाविहार के अनुयायी थे। इसका प्रमुख कारण भिक्षुजीवन में विनय के नियमों का कठोरतम पालन था। सर्वप्रथम सीवली, आनन्द और तामलिन्द के अनुयायियों ने तीन उपसम्प्रदाय स्थापित किये। इसके अतिरिक्त बुद्धवंश महाधैर और महासामी महाधैर (मदानाम) ने दो उपसम्प्रदाय बनाये। दोनों ही मुत्तिम की अभ्यमहेति के रूढ़ थे एवं लंका में शिक्षित और दीक्षित हुए थे। महाविहार की आचार्यपरम्परा के होते हुए भी आरम्भ से ही दोनों में पार्थक्य था।

१२१० ई० में नरपतिसिधु की मृत्यु के पश्चात् पुत्र हित्तलोमिन्ने राजा बना। यह राजा भी धर्मरत बौद्ध था। सिक्ख पगोडा तथा बोधगया के समान ही महावीधिविहार इस राजा द्वारा बनाये गये अनेक बौद्ध स्तूपों में प्रमुख हैं। इसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किया मन्वस्वलिन् पगोडा भी पूरा किया। १२३४ ई० में पुत्र क्यस्स राजा बना। अरिमर्दनपुर के संघ ने इस भक्त और भद्राप्रवण राजा को धर्मराज की उपाधि से विभूषित किया। राजा ने नव बार विदितकों का पाठ किया। वह प्रजा का पुण्यवत् पालन करता था। राजपरिवार की मारिजाओं के लिए उसने परसत्थविन्दु नामक ग्रन्थ लिखा। विद्वान् राजा का दूसरा ग्रन्थ सहविन्दु व्याकरण का ग्रन्थ है। इसकी विद्युपों पुत्री ने पाल की विभक्तियों पर विमत्तथ नामक ग्रन्थ लिखा। अरिमर्दनवंश का यह अन्तिम महात्वपूर्ण राजा या जितके समय में बौद्ध धर्म, कला और साहित्य की विशेष स्थान मिला।

१ - विदितकथनें, मन्वस्व और सात्तनवत्त के अनुसार इस ग्रन्थ का लेखक राजा क्यस्स है।